ISBN: 978-81-974088-0-9

12. वर्तमान समाज एवं दिव्यांग बालकों की सामाजिक समस्याएं

डॉ. मीना कुमारी

सहायक प्राध्यापक, शिक्षण विभाग,
गुरु घासीदास विद्यापीठ,
बिलासपूर छत्तीसगड.

दिव्यांग बालक को समझने एवं परिभाषित करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि सामान्य बालक से हमारा क्या अभिप्राय है तथा ऐसे कौन-कौन से कारक हैं जो किसी बालक को सामान्य बालक की श्रेणी में लाते हैं और जिनसे विचलित होने पर बालक दिव्यांग बालक की श्रेणी में सम्मिलित किया जाता है।

सामान्य बालक औसत शारीरिक कद काठी के तथा स्वस्थ होते हैं। सामान्य शारीरिक श्रम वाले कार्यों को करने में किसी भी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं करते हैं। शिक्षा में भी वे औसत ही होते हैं। इनका बौद्धिक स्तर सामान्यतया 90 से 110 बुद्धि लब्धि (IQ) के मध्य होता है। ऐसे बालक पढ़ाई में सभी विषयों को समान महत्व देते हुए शिक्षक द्वारा दिए गए कक्षा कार्य तथा गृह कार्य को लगन के साथ समय पर पूरा करते हैं। खेलकूद में भी ये बालक औसत होते हैं ।ऐसे बालक सामाजिक गतिविधियों में सहयोग तथा समाज में अपेक्षित व्यवहार करते हैं। इसी कारण से इनका समाज एवं विद्यालय में समायोजन श्रेष्ठ रहता है। ऐसे बालक संवेगात्मक रूप से संतुलित होते हैं ।

अतः कहा जा सकता है कि वे बालक जो शारीरिक रूप से लगभग समान होते हैं । जिनमें सीखने की क्षमता भी लगभग एक समान होती है। मानसिक रूप से भी वे औसत वर्ग में आते हैं ।उनका सामाजिक व्यवहार समाज में उपस्थित मान्यताओं के अनुसार होता है । उनमें दूसरों से पर्याप्त संप्रेषण करने की क्षमता होती है तथा अभी सामान्य शिक्षा कार्यक्रम द्वारा शिक्षा ग्रहण करने की स्थिति में होते हैं। ऐसे बालकों को सामान्य बालकों की श्रेणी में रखा जाता है।

इसके विपरीत दिव्यांग बालक वह होता है जिनमें कोई शारीरिक न्यूनता होती है। यह शारीरिक न्यूनता छोटी या बड़ी हो सकती है। इसका कारण जन्मजात या कोई बीमारी या दुर्घटना हो सकता है। इस श्रेणी में वे बालक आते हैं जो अंग-भंग, अंधे, बहरे, गूंगे, हाथ- पैर से अपंग या अन्य शारीरिक बढ़ाओ से ग्रस्त होते हैं। दिव्यांग बालकों में जिस प्रकार की भिन्नता होती है उसी प्रकार की उनकी शारीरिक और मानसिक योग्यताओं में भिन्नता होती है।

कुछ बालकों में दिव्यांगता तो अधिक होती है, जबकि कुछ बालक सामान्य रूप से दिव्यांग होते हैं। बालक की दिव्यांगता का प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर भी पड़ता है। ल्यूरी (Lurie) के अनुसार, दिव्यांग बालक की प्रवृत्ति "स्वयं हीनता" की भावना दर्शाती है। वह अपने आपको असहाय असुरक्षित और अयोग्य समझने लगते हैं।

इसके फलस्वरुप उनका स्वयं और समाज में समायोजन प्रभावित होता है। उनमें हीनता की भावना बढ़ जाती है तथा वह अपने सामाजिक और सांसारिक कार्यों से दूर होने लगता है। वह अपने आप को परिवार और समाज पर बोझ मानने लगता है । वह अपनी सीमित योग्यताओं और अंग भंगता के कारण सभी जगह उपेक्षित समझा जाने लगता है। इस कारण, वह कुसमायोजित जीवन जीने के लिए बाध्य हो जाता है। उसमें अनेक व्यक्तित्व संबंधित जटिलताएं उत्पन्न हो जाती हैं । त्रुटिपूर्ण व्यक्तित्व विकास का प्रभाव बालक के समायोजन, शैक्षिक प्रगति और सामाजिक जीवन को प्रभावित करता है।

दिव्यांग बालक का सामान्य बालकों के समान विकास नहीं हो पाता है । जिसके कारण वह अपनी क्षमता व योग्यतानुसार अपने गुणों और व्यक्तित्व को प्रदर्शित नहीं कर पाता है । कुछ शारीरिक रूप से दिव्यांग बालक सामान्य बालकों से इतनी भिन्न होते हैं कि उन्हें असामान्य बालकों की श्रेणी में रखा जा सकता है ।

सामान्य बालकों के समान ही इन बालकों की अभिरुचियां, आंतरिक वेग,अतःप्रेरणा होती है। वह भी अपने सहपाठियों के साथ खेलना, घूमना व सामूहिक कार्यों में भाग लेना चाहते हैं परंतु शारीरिक योग्यताओं के कारण वे सामूहिक कार्यों में भाग नहीं ले पाते। जिससे वह कुंठा का अनुभव करते हैं और आजीवन निराशा में जीते हैं। ये बालक तीन प्रकार के होते हैं ।

1. सामूहिक कार्यों में भाग न लेने से निराशा

शारीरिक अक्षमता के कारण ऐसे बालक सामूहिक सामाजिक कार्यों में भाग नहीं ले पाते हैं। दूसरे लड़कों को खेलते,घूमते, दौड़ते देखकर इनके मन में निराशा होती है। इस प्रकार के कार्यों में भाग न ले पाने के कारण उनका शारीरिक, संवेगात्मक और सामाजिक विकास भी नहीं हो पाता। विभिन्न कार्यों में भाग न ले सकते के कारण उनका अनुभव भी काम होता है। शारीरिक रोग आदि होने से वह स्वयं सदैव परेशान और अपने जीवन से निराश रहता है। उसे अपना जीवन भार स्वरूप लगने लगता है। वह अपने को समाज के लिए अनुपयोगी और महत्वहीन समझता है।

2. दूसरे बालकों का बुरा व्यवहार

शारीरिक अक्षमता के कारण ऐसे बालक कमजोर और बुरे दिखाई देते हैं। उनकी शारीरिक न्यूनता के कारण दूसरे बालक उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं करते। वह उन्हें अपने साथ खिलाना, घूमने ले जाना, समूह में भाग लेने देना आदि पसंद नहीं करते हैं। उनका तिरस्कार करते हैं और बुरा भला कहते हैं, चिढ़ाते हैं और परेशान करते हैं। इन कारणों से ऐसे बालक का सामाजिक विकास नहीं हो पाता ।उन्हें उनका मित्र और समाज हेय दृष्टि से देखता है। छोटी आयु में तो माता-पिता देखरेख करते हैं परंतु बड़े होने पर सब उपेक्षा करने लगते हैं। लड़कियों में तो आजीवन ताने ही सुनाने पड़ते हैं।

3. अपने प्रति असंतोषप्रद विचार उत्पन्न होना

ऐसे बालकों को अपना जीवन दूभर लगता है। वह अपने आपको किसी काम का नहीं समझते। उपेक्षा और तिरस्कार के कारण उनमें हीनता, आत्मग्लानि के भाव आ जाते हैं । उन्हें ऐसा लगता है कि उनके प्रति सहानुभूति और स्नेह दर्शाने वाला कोई नहीं है। संसार में एकाकीपन लगता है। वह सदैव अलग अकेले में रहना पसंद करते हैं। यदि माता-पिता की आर्थिक स्थिति अच्छी न हुई तो उन्हें अनेक व्यक्तिगत समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इतने बड़े संसार में उन्हें अपना कहने वाला कोई नहीं दिखाई देता। सहानुभूति, स्नेह और प्रोत्साहन के अभाव में उनकी अभिरुचियां, अभिक्षमताएं, प्रतिभाएं आदि नष्ट हो जाती हैं।

दिव्यांग बालकों की सामाजिक समस्याओं को समझने के लिए हमें अपने परिप्रेक्ष्य को थोड़ा बदलने की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए हम विचार करें कि हम बाज़ार से खरीदारी करके अभी तत्काल घर लौटे हैं। यदि यही कार्य एक दृष्टिहीन , श्रवणबाधित या किसी अन्य प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक रूप से दिव्यांग बालक द्वारा किया जाएगा तो उसे कौन-कौन सी समस्याओं का सामना करना पड़ेगा। जैसे ही हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं हमें वर्तमान समय में दिव्यांग बालकों की सभी समस्याएं परत दर परत खुल के सामने आने लगती हैं।

उनकी एक-एक गतिविधियां हमें उनकी स्थिति और परिस्थिति को दर्शाने लगती हैं। जब हम विचार करते हैं तो हमें यह समझ में आता है कि दृष्टिदोष से प्रभावित बालक को रास्ता खोजने में या सड़क पार करने, दुकान वाले का पता करने, सामान की क्वालिटी चेक करने में कई प्रकार की कठिनाइयां आई होंगी ।वह कहीं ठोकर खाकर लड़खड़ाया होगा, कहीं गिरा होगा कहीं गाड़ियों की चपेट में आ गया होगा तो कही किसी से मदद पाया होगा आदि।

जब हम इस कार्य को लेकर किसी श्रवणबाधित बालक पर विचार करते हैं तो हमें यह समझ में आता है कि श्रवण बाधित बालक रास्ता पार करते समय गाड़ियों का हार्न नहीं सुन पाया होगा ।

दुकानदार से सामान खरीदने के दौरान वार्तालाप नहीं कर पाया होगा । वह कुछ कह रहा होगा तो सामने वाला कुछ बता रहा होगा । उसका यह कार्य देखकर कई लोग उसके ऊपर तरस खाए होंगे, मुस्कुराए होंगे आदि।

शारीरिक दिव्यांग बालक को चलने में सहायता की आवश्यकता हुई होगी तथा कुछ दूरी तय करने में अधिक समय लगा होगा। एक मानसिक दिव्यांग बालक कुछ करते समय सर चकराया होगा और सड़क पर चलते समय दूसरे लोगों ने उसकी हंसी उड़ाई होगी। हम कल्पना करें कि इन सभी व्यक्तियों को बाजार जाना है और वहां जाने के लिए किसी सार्वजनिक वाहन बस/ टैक्सी आदि का उपयोग करना है । जब हम विचार करते हैं तो समझ में आता है कि ऐसा करते समय हर दिव्यांग बालक को अलग-अलग तरह की कठिनाई आई आएगी दृष्टिहीन बालक बस नंबर नहीं पढ़ पाएगा मानसिक रूप से अक्षम बालक गलत बस में चढ़ जाएगा। शारीरिक अक्षम

बालक को बस में सवार नहीं हो पाएगा आदि।संक्षेप में सामान्य व्यक्ति जो काम स्वाभाविक रूप से कर लेते हैं वही कार्य दिव्यांग बालक के लिए उतना सरल नहीं हो पाता। इससे उनमें कुंठा और हताशा पैदा होती है और वह आजीवन निराशा में जीवन जीते रहते हैं।

हमारे देश में सामान्यतः सभी प्रणालियाँ और सुविधाएं केवल सामान्य व्यक्तियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बनाई गई हैं । हमारे फोन, परिवहन सुविधाएं , बैंक प्रणाली और यहां तक कि लिफ्ट आदि सभी साधन ऐसे बने हुए हैं कि कोई भी विकलांग व्यक्ति स्वतंत्र रूप से यानी किसी दूसरे की सहायता के बिना, उसका उपयोग नहीं कर सकता। जबकि विकसित देशों में विकलांग व्यक्तियों की भी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए सभी प्रणालियों बनाई गई है। उदाहरण के लिए, दृष्टिबाधित व्यक्तियों की सुविधा के लिए विकसित देशों में लिफ्ट के बट्नों पर ब्रेल लिपि भी अंकित होता है। सार्वजनिक बसों में निजी की जा सकने वाली सीढ़ियां होती हैं ताकि दिव्यांग व्यक्ति पहिए वाली कुर्सी पर बैठे-बैठे बस में प्रवेश पा सके। वहां श्रवणदोष वाले लोगों के लिए विशेष प्रकार के टेलीफोन उपकरण उपलब्ध कराए जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कि जब दिव्यांग व्यक्तियों की आवश्यकताओं की अनुरूप वातावरण का निमार्ण नहीं किया जाता है तो तब दिव्यांग व्यक्तियों को अपना सामान्य जीवन जीने मे समस्याओं का सामना करना पड़ता है । इससे बाधाग्रस्त व्यक्तियों का दैनिक जीवन और भी कठिन हो जाता है। वह अपनी दिव्यांगता या समाज के व्यवहार या दोनों के कारण चिंता, भय,अकेलापन और दुर्घटनाओं का सामना करते रहते हैं। सामान्य व्यक्ति को तो तनाव मुक्ति के लिए मनोरंजन के तमाम साधन या अन्य अनेक सामाजिक क्रियाएं उपलब्ध है। जबकि दिव्यांग व्यक्ति इन सुख सुविधाओं से वंचित रहकर निराशा में जीवन व्यतीत करते हैं।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए बाधाग्रस्त/ दिव्यांग व्यक्तियों की सामाजिक आवश्यकताओं को समझना बहुत ही आवश्यक है। हम सभी को उन्हें पहले व्यक्ति के रूप में देखा जाना चाहिए बाद में दिव्यांग के रूप में क्योंकि दिव्यांग व्यक्ति की भी वे ही शारीरिक, सामाजिक एवं संवेगात्मक आवश्यकताएं होती हैं जो अभावग्रस्त यानी किसी सामान्य व्यक्ति की होती है।

सभी बच्चे कुछ मौलिक आवश्यकताओं के साथ जन्म लेते हैं, जिनकी पूर्ति उनके शारीरिक, सामाजिक व बौद्धिक विकास के लिए जरूरी है। इन क्षेत्रों में से किसी एक की वृद्धि अवश्य ही दूसरे क्षेत्रों से प्रभावित व संबंधित होती है। इस संदर्भ में सामाजिक व संवेगात्मक आवश्यकताओं को समझने की एक विधि मास्लोव (1954) ने प्रतिपादित की । उन्होंने बताया कि व्यक्तिगत आवश्यकताओं से मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य का अनुक्रम बनता है। उसके प्रतिमान के अनुसार उच्च स्तर की आवश्यकताएं जैसे सुरक्षा, प्यार और अपनत्व, आत्मसम्मान तथा आत्मसिद्धि (ये तीनों आवश्यकताएं)तभी प्राप्त की जा सकती हैं जब अधिक शक्तिशाली क्रियात्मक (भूख, प्यास यौन क्रिया आदि)और सुरक्षात्मक प्रकार के दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति पहले हो जाए । इसका अभिप्राय यह है कि सर्वोच्च स्तर की आवश्यकताएं (आत्मसिद्धि) तभी संभव है जब निकली चारों आवश्यकताओं की क्रमश: पूर्ति हो जाए।

जीवित रहने के लिए शारीरिक और स्वास्थ्य संबंधी आवश्यकताओं की संतुष्टि आवश्यक है, जबकि बालक के पूर्ण विकास के लिए भावात्मक और सामाजिक विकास बहुत ही महत्वपूर्ण है। बालक का मनोवैज्ञानिक विकास, प्यार किए जाने की भावना से या उसके जीवन में महत्वपूर्ण व्यक्तियों द्वारा स्वीकार किए जाने के साथ-साथ उत्तेजित और चुस्त होने से पोषित होती है। शारीरिक और संवेगात्मक सुरक्षा आस्था (विश्वास) के विकास को आधार प्रदान करती है जो बालक को अपने परिवेश से संबंधित सभी पक्षों को खोजने व परखने की इजाजत देती है और स्वयं (SELF) का भाव यानी आत्मभाव विकसित करने की तरफ प्रयत्नशील बनाती है

यों तो दिव्यांग व्यक्तियों को उनकी अक्षमताओं के कारण कई प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है पर उनकी सामाजिक व संवेगात्मक आवश्यकताओं पर कम ध्यान दिए जाने से उनकी समस्याएं और बढ़ सकती हैं इसलिए उनकी सामाजिक और संवेगात्मक समस्याओं को समझना आवश्यक है ताकि वे अपनी क्षमताओं का अधिकतम विकास कर सकें।

किसी भी प्रकार की अक्षमता/ दिव्यांगत एक बालक की समाज में गतिशीलता को कई प्रकार से सीमित कर देती है। एक बाधाग्रस्त बालक की समाज में भूमिका, उसका स्तर और व्यवहार समाज के अन्य व्यक्तियों द्वारा उसके प्रति दिखाए गए

अंतरवैयक्तिक व्यवहार, छवि निर्माण एवं पसंद- नापसंद आदि से बहुत अधिक प्रभावित होते हैं। बाधाग्रस्त व्यक्तियों के समाज के प्रति दृष्टिकोण को दूसरों द्वारा प्रदर्शित व्यवहार में सहानुभूति पूर्ण अनुक्रियाएं नकारात्मक या शत्रुतापूर्ण प्रतिक्रियाएं समानताएं प्रभावित करती हैं । इसका परिणाम उस व्यक्ति के सामाजिक जगत से अलगाव कुसमायोजन और असभागिता के रूप में निकलता है । दिव्यांगता केवल चिकित्सा क्षेत्र का विषय ही नहीं, यह सामाजिक महत्व का क्षेत्र भी है। यह किसी व्यक्ति में वास्तविक वस्तु नहीं बल्कि एक सामाजिक मूल्य संबंधित निर्णय है। किसी दिव्यांग व्यक्ति की समाज और समुदाय के साथ एकता के लिए सामाजिक मूल्यनिर्माण बहुत महत्वपूर्ण होता है। उसके विचलन के प्रति समाज की सोच उसकी रुचियों,आकांक्षाओं आदि को समझने की संभावनाओं को काम करती है। जब दिव्यांग व्यक्ति का परिवेश पक्षपातपूर्ण विरोधी एवं उदासीन हो तो ये सारी परिस्थितियां मिलकर उस व्यक्ति में प्राय: पलायनवाद जैसे व्यवहार को जन्म देती है। एक दिव्यांग बालक अपने बारे में क्या सोचता है जब हम यह विचार करते हैं तो पाते हैं कि जो काम सामान्य बालक उपलब्ध समय में आसानी से पूरा कर देता है उसी काम को दिव्यांग बालक समय से पूरा नहीं कर पाते। वे समाज द्वारा प्रस्तुत निष्पादन क्षमता स्तर और व्यवहार करने के तरीकों को आत्मसात नहीं कर पाते। सामान्य बालकों जैसे कार्य करने की योग्यता न होने से दिव्यांग बालकों में परेशानी और निचा देखने की भावना पैदा होती है। वह अपने आप को आत्मसम्मान रहित समझने लगते हैं। आत्मसम्मान के अभाव में बालक में हीनता की भावना भर जाती है। यदि दिव्यांग बालक के साथ उसके परिवार और उसके नजदीकी संपर्क में आने वाले लोग खास तौर से प्रारंभिक वर्षों में आदर की भावना या सम्मान का बर्ताव करें तो इससे उसकी स्वयं के प्रति छवि सुधरेगी अर्थात उसके स्वयं के विचार, चेतना और अर्द्धचेतना सकारात्मक रूप से प्रभावित होगी।

जब हम कभी विचार करते हैं और सोचते हैं कि जो दिव्यांग बालक बार-बार अनुत्तीर्ण होता है वह कैसा अनुभव करता होगा । इसका विचार करने पर यही समझ में आता है कि वह बालक घोर निराशा का अनुभव करेगा यानी हताश हो जाएगा । सफल क्रियाकलापों की श्रृंखला किसी भी बालक में उसके मनोबल और आत्मविश्वास को पुष्ट करती है, जबकि असफल प्रयासों के क्रम में उसमें अपनी पहचान खोने या अपुरस्कृत रह जाने का डर समा जाता है।

इससे उसका मनोबल गिर जाता है जिससे भावी क्रियाकलापों में भी सफलता के अवसर न्यून से न्यूनतम हो सकते हैं। उदाहरणस्वरूप शारीरिक दिव्यांगता वाला कोई बालक कुछ संवेदी प्रेरक अनुभवों में जैसे- हाथों पर सही निमंत्रण, आंख और हाथ में समन्वय लाने में कुछ हीनता अनुभव कर सकता है, विशेष रूप से जब माता-पिता उसके द्वारा चम्मच का ठीक से प्रयोग ना कर पाने या गुटकों द्वारा निर्माण कार्य पूरा करने पर अधीर हो जाते हैं और उसके प्रयासों की आलोचना करने लगते हैं।

एक बालक की आयु विशेष में अपेक्षित उसके निष्पादन क्षमता का स्तर बहुत कुछ अभिभावकों की अपेक्षाओं से निर्धारित होता है। थोड़ी बहुत अक्षमता वाले बालक की उसी आयु के सामान्य बालक से तुलना करने पर यदि उसका बहुत पृथक अस्तित्व नहीं है तो बहुत पृथक अस्तित्व नहीं है तो फिर उसे सामान्य बालक मानने में कुछ भी अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होती। किंतु जब वह कुछ अनाड़ीपन कर बैठता है तो उसके माता पिता में से कोई भी व्याकुलता महसूस करने लगता है तब उसे यह आभास हो जाता है कि उस कि निष्पादन क्षमता दूसरे बच्चों के समान नहीं है।

तब वह बालक भी अनुभव करने लगता है कि वह माता पिता की अपेक्षाओं पर खरा नहीं उतर पा रहा है। इससे तो उसकी अपनी छवि तो खराब होती ही है, साथ साथ उसके मनोबल व विश्वास में भी गिरावट आ जाती हैं। बालक में किसी भी तरह की अक्षमता हो तो लोग उसका सामान्यीकरण करते हुए मानने लगते हैं कि वह व्यक्ति पूरी तरह से बेकार है। दिव्यांग बालकों के प्रति लोगों का ऐसा सामान्यीकरण ही दिव्यांग बालकों के प्रति दोषपूर्ण रवैया प्रकट करता है।

किसी भी प्रकार की विकलांगता या अक्षमता के कारण लगे कलंक से दिव्यांग बालक समाज द्वारा स्वीकार नहीं किए जाते। लोग उनकी योग्यताओं के बजाय उनकी अयोग्यताओं पर विशेष ध्यान देते हैं। इसके कारण व्यक्ति से समुदाय से कट जाते हैं और अलग- थलग रहने लगते हैं। कलंक की मात्रा स्थान स्थान के अनुसार बदलती रहती है। विकसित देशों की तुलना में भारत में दिव्यांग बालकों पर सामाजिक कलंक अधिक गहरा दिखाई पड़ता है। समाज का यह दृष्टिकोण दिव्यांग व्यक्तियों की समाज के साथ एकता में बाधक होता है।

सामान्यतः देखा गया है कि समाज दृष्टिबाधित बालक की प्राय: उपेक्षा करता है। समाज ही उसकी उपेक्षा नहीं करता, दृष्टिहीनता स्वयं उस दिव्यांग बालक की आत्मधारणा को प्रभावित करती है, भले ही प्रभावित करने वाले कुछ अन्य कारक भी हो सकते हैं तब वे समझने लगते हैं कि वे समाज में रहने लायक नहीं है और समाज से अपने को कटा कटा सा महसूस करने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि वह अपने संघी- साथियों से अलग-थलग पड़ जाते हैं और उनमें प्रत्याहार/ निवर्तनता वृत्ति जाग उठती है। समाज भी उनकी इस भावना को समझ नहीं पाता और वह उनको अपने जैसा स्वीकार करने में आनाकानी करने लगता है। यह भी एक कारक है जिसकी वजह से दिव्यांग बालक समाज से अपने आप को कटा कटा महसूस करता है और उसमें घुलमिल नहीं पाता। जैसे- दृष्टिहीन बालक अपने दृष्टिहीनता से उतना पीड़ित नहीं होता है जितना कि अपने प्रति समाज के नकारात्मक दृष्टिकोण से ।

मानसिक दिव्यांगता वाले बालकों की प्रत्याहार की समस्या का एक कारण समाज का उनके प्रति दयनीय या बहुधा विरोधी दृष्टिकोण है ,जो उनकी समस्याओं को और अधिक बढ़ा देता है। यही नहीं, समाज की उपेक्षा से दिव्यांग बालक की स्वतंत्रता और उसका अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाता है। दूसरी अक्षमताओं की तरफ भी समाज की उपेक्षावृत्ति बरकरार है, इसलिए मानसिक दिव्यांग बालक की तरह ही वे भी समझ में अच्छी तरह नहीं घुल मिल पाते और आजीवन कुंठाग्रस्त जीवन व्यतीत करते हैं।

यदि दिव्यांग बालकों को उचित प्रोत्साहन, आरंभ से ही उद्दीपन और निर्देशन प्राप्त होता रहे तो अधिकतर दिव्यांग बालक समाजोपयोगी और स्वतंत्र जीवन व्यतीत कर सकते हैं।